विज्ञान, तकनीक और समाज

सच्चिदानन्द सिन्हा

वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि को बेहतर मानने के पीछे तकनीक का चमत्कार है। चमत्कार मनुष्य की सामान्य कमजोरी है। पैगम्बरों को भी अपने लोगों पर पकड़ बनाये रखने के लिए इसकी जरूरत पड़ी थी। यहाँ हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि चमत्कार निश्चित तौर पर विश्व के किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की पैदाइश नहीं बल्कि वस्तु के गुणों और व्यवहार के प्रति बढ़ते ज्ञान को एक शिल्पकृति में उपयोग करना भर है।

हम सब आमतौर पर यह मानते हैं कि विज्ञान का मौजूदा स्वरूप ही वह 'विज्ञान' है जिसके पास प्रकृति के रहस्यों की कुंजी है। यह तो सब मान ही लेते हैं कि आधुनिक तकनीक इसी विज्ञान की अनिवार्य परिणति है। इसी मान्यता के चलते आधुनिक तकनीक को विकास की श्रेष्ठ उपलब्धि मान लिया जाता है। और यह डर भी पैदा होता है कि इस तकनीक के अत्याधुनिक स्वरूप के साथ हमकदम न हुए तो विकास की दौड़ में पिछड़ जाएँगे और असभ्य कहलाएँगे। लेकिन गहराई से विचार करने पर हम पाएँगे कि हर तकनीक विशेष सांस्कृतिक परिवेश को उपज होती है और अपने मूल परिवेश में ही मुकम्मल होती है। हम यह भी जान पाएँगे कि 'आधुनिक' तकनीक उस संस्कृति की देन है जिसने इसके सिर्फ एक पहलू की अतिवृद्धि का स्वाद चखा है।

दरअसल, मानव चेतना अनिवार्यत: दो ध्रुवीय होती है। किसी वस्तु तथा घटना के सीधे अवलोकन से व्यक्ति की बनी अवधारणा और उस वस्तु तथा घटना में तारतम्य बैठाती सम्पूर्ण विश्वदृष्टि के बीच लगातार टकराहट चलती रहती है। व्यक्ति की अपनी अवधारणा उसकी अपनी बोधगम्यता से बनती है मगर वस्तु या घटना की सार्थकता विश्वदृष्टि से बनती है। यह विश्वदृष्टि ऐसी वस्तुओं और घटनाओं के लगातार अवलोकन से उभरी अवधारणाओं से मिलकर बनती है। इस दृष्टि के विकास में हमारे अपने समाज और परिवार की संस्कृति का भी आंशिक योगदान होता है। इसी प्रक्रिया से कोई वस्तु हमारे लिए स्थायी और उपयोगी हो पाती है। मसलन, कोई व्यक्ति पहली बार कुर्सी देखता है। सम्भव है, वह कुर्सी के अनगिनत पहलुओं में किसी एक पहलू को ही देख पाए—अगर कुर्सी किसी धागे के सहारे उलटी लटक रही हो तो देखने वाले के मन में उसका कोई विचित्र रूप उभरे। यानी एक बार कुर्सी को देखने से व्यक्ति के मन में उसके आकार और उपयोगिता के बारे में कोई निश्चित स्वरूप नहीं उभरेगा। अपने सही स्वरूप में कुर्सी को बार-बार देखने और बैठने के लिए उसके इस्तेमाल को परखने के बाद ही हमारे मन में कुर्सी के स्थायी स्वरूप और उसकी उपयोगिता के बारे में पक्की धारणा बनती है। अगर किसी वस्तु को पहली बार देखकर उसके सम्पूर्ण स्वरूप और महत्त्व को रेखांकित करने को मजबूर कर दिया जाए तो जीवन दुरूह हो जाएगा। दरअसल, हमारी रुचि की सभी वस्तुओं और घटनाओं के बार-बार अवलोकन से हमारे मन में उसके स्वरूप और महत्त्व के बारे में स्थायी और सुव्यवस्थित धारणा बनती है। सूर्य हर रोज सुबह पूरब में उगता और पश्चिम दिशा में अस्त होता लगता है। काफी दूर खड़ी कोई पहाड़ी या पड़ोस में खड़ा केले का वृक्ष रोज एक समान ही लगता है। इस तरह हम उनमें बारीक परिवर्तनों को नजरअन्दाज भी कर सकते हैं और अमूमन उनकी स्थायी और जानी-पहचानी छवि ही हमारे मन में बनी रहती है। स्थायित्व और व्यवस्था का यह बोध घटनाओं की व्याख्या करने वाली अवधारणाओं से और मजबूत होता है और ये अवधारणाएँ हर समाज और संस्कृति में अलग-अलग हो सकती हैं। अकसर संस्कृति से मिले विचार आस्था का रूप ले लेते हैं। मसलन, हम व्यक्तिगत तौर पर कभी इस धारणा की सच्चाई जानने को व्याकुल नहीं होते कि पृथ्वी गोल है जबकि हमारे दैनन्दिन अनुभव में यह धारणा फिट नहीं बैठती। किसी समाज या सभ्यता के लोगों ने अगर लम्बी दूरी की यात्राएँ न की हों तो सम्भव है आज भी वहाँ माना जाए कि पृथ्वी चपटी है। आमतौर पर हम अपने अनुभव और अपनी संस्कृति में स्थापित दृष्टि से तय किसी वस्तु की सार्थकता और स्वरूप के प्रति सन्तुष्ट हो जाते हैं। लेकिन हमेशा इसके साथ एक शर्त भी जुड़ी रहती है। यानी किसी वस्तु या घटना के बारे में स्थापित दृष्टि उस वस्तु या घटना के अवलोकन से बनने वाली धारणा के बिल्कुल विपरीत न हो। हालाँकि कई बार स्थापित दृष्टि के प्रभाव में व्यक्ति अपने अवलोकन से उभरने वाले तथ्यों के प्रति असंवेदनशील बन जाता है।

मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह दुनिया को टुकड़े-टुकड़े में बाँटकर नहीं देख सकता। वह हर टुकड़े को अपनी समग्र दृष्टि के अन्दर ही समेटकर देखता है। उसे वह दिक्-काल की अपनी अवधारणा और कार्य-कारण सम्बन्ध के तहत रखकर देखता है। हालाँकि दिक्-काल की अवधारणा तथा कार्य-कारण सिद्धान्त हर संस्कृति में काफी अलग-अलग हो सकते हैं। कार्य-कारण सिद्धान्त का असर तो व्यक्ति में इतना गहरा होता है कि प्राकृतिक आपदा, महामारी, बीमारी और मौत की कोई स्पष्ट वजह न दिखने पर उसे जादू-टोना या दैवीय कोप का असर मान लिया जाता है। दरअसल, जादू, कीमियागिरी और रसायनशास्त्र का विकास घटना के उचित कारण जानने के लिए हुआ है।

इन सभी विधाओं से एक तथ्य उभरकर आता है कि मनुष्य के अस्तित्व और तमाम व्यावहारिक गतिविधियों के लिए सीधे अनुभव से उभरे तथ्यों पर विश्वास रखना अनिवार्य होता है। मसलन, कोई आग में जलकर और गहरे पानी में डूबकर ही आग और पानी के इन गुणों से इनकार कर सकता है। दूसरी ओर विश्व-दृष्टियों की अनिवार्यता इस कदर नहीं होती बशर्ते उन्हें व्यावहारिक गतिविधियों से सीधे न जोड़ लिया जाए।

हर समाज अपने अनुभव के दायरे और जिन्दगी के तौर-तरीकों की जरूरतों में तारतम्य स्थापित करते हुए अपनी विश्व-दृष्टि बनाता है। पहले सामाजिक अस्तित्व की इस जरूरत को ब्रह्मांड की कल्पना और मिथकों के सहारे पूरा किया जाता था। विज्ञान को आज हम जिस रूप में देखते हैं वह असल में इसी विशाल दृष्टि अर्थात वस्तुओं और घटनाओं को एक पक्के प्राकृतिक ढाँचे के अन्दर ही देखने के तरीके को तैयार करने की विधि है। यह मिथकों और जादू-टोने से आगे का कदम है। और जब मनुष्य ने हर घटना के पीछे ईश्वर की इच्छा या किसी देवदूत का हाथ देखना बन्द किया तभी से इसकी शुरुआत हुई। अपनी दुनिया के बारे में समझ बनाने वाली अवधारणा को सामने लाना ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। यह बुनियादी भावना ही अब गायब हो गयी है; भौतिक विज्ञान की दुनिया अब गुह्य और अबूझ होती जा रही है।

यह तर्क भी दिया जा सकता है कि आज की तकनीकी उपलब्धियाँ तो यही बताती हैं कि भले ही विज्ञान लोगों के लिए अबूझ हो गया हो पर यह प्रकृति के रहस्यों को उजागर करने में ज्यादा सक्षम हो गया है। पर बारीकी से देखने पर हम पाएँगे कि आधुनिक तकनीकी उपलब्धियों से ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। ये सिद्धान्त सिर्फ दिमागी उपज हैं और आगे के प्रयोगों का गला ही घोंट रहे हैं। हाँ, इन सिद्धान्तों ने निरन्तर अपने औचित्य

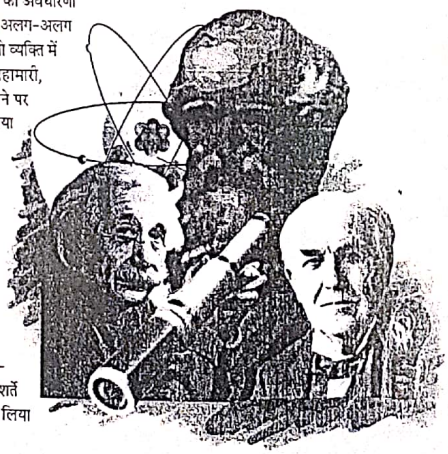

Scanned with CamScanner

...तजस्विता का जो माहौल बनाया है और उत्कंठा जगायी है, उससे प्रयोग के काफी सारे रास्ते खुले हैं। इसने स्वाभाविक रूप से वस्तुओं और उनके गुणों के बारे में मनुष्य के ज्ञान को काफी बढ़ाया है। जहाँ तक सिद्धान्तों की बात है इनको लेकर होने वाले प्रयोगों ने अक्सर पुराने सिद्धान्त को खारिज करके नये के आने का रास्ता ही बनाया है, उनको स्थापित करने का काम नहीं किया है। दुनिया के ज्ञानन पर जहाँ-तहाँ गिल्टियों और धब्बों के रूप में उभरने वाले तथ्यों को एक तरह का जामा पहनाने का काम ही ये सिद्धान्त करते हैं। कला भी अनेक घटनाओं को सहेजकर एक तारतम्यता देती है।

गैलीलियो, डेस्कार्टेस और न्यूटन के बाद का विज्ञान अपने पूर्ववर्ती रूप में एक अर्थ में एकदम अलग है। उनके समय तक गणित ने इसमें केन्द्रीय भूमिका ले ली थी। प्राचीन विश्व में भी गणित की अपनी भूमिका थी, पर अलग किस्म की। ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों को समझने व ग्रहणों की भविष्यवाणी करने के लिए मिस्र, बेबीलोन और भारत के ज्योतिषियों ने गणित का विकास और उपयोग किया था। मिस्र में इसी आधार पर नील नदी की बाढ़ का हिसाब-किताब भी रखा जाता था जिससे सिंचाई करके वह सभ्यता टिकी थी। कहा जाता है कि ज्यामिति के अपने ज्ञान का उपयोग करके आर्कमिडीज ने सिराक्यूज शहर की रखवाली के हथियार बनाये थे। गणित ने दिक्काल की दूरी को खत्म करते हुए उन सुदूर की वस्तुओं और घटनाओं को, जो प्रत्यक्ष माप-तौल-अध्ययन में न आ सके, बहुत पास ला दिया और उनके बारे में भी भविष्यवाणी करना सम्भव हो गया। यही मुख्य कारण है कि शुरूआती वैज्ञानिक इसकी तरफ ज्यादा आकर्षित हुए। सत्रहवीं सदी से विज्ञान पर गणित ही सबसे ज्यादा हावी रहा है और सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञान में तो गणित के मॉडल ही असली रह गये और रोज-ब-रोज जिस दुनिया और जिन घटनाओं से हमारा पाला पड़ता रहा उसका ज्यादा महत्त्व नहीं रहा और विज्ञान का यह गणितीय संसार अनुभवजनित तथ्यों की जगह अपनी गणना पर ही ज्यादा आश्रित होता गया।

मानवीय दिलचस्पी के हर क्षेत्र में हुए ऐसे अध्ययनों के अनुरूप ही तकनीक और इस क्षेत्र में दिखी नयी बातों को बताने वाले सिद्धान्त विकसित हुए। यह दूसरी चीज ही विज्ञान है और मुख्यत: यह मनुष्य की कलात्मक इच्छाओं को ही परिपूर्ण करती है। और यहाँ आकर वैज्ञानिक सिद्धान्त कुछ परिकल्पनाओं को जन्म देते हैं जो सामने दिखे तथ्यों से आगे की चीजों, सम्भावित कारणों और परिणामों, गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त, ईथर, इलेक्ट्रॉन को मानें या फिर आयुर्वेद में कफ, पित्त और वायु के सन्तुलन जैसी चीजों को स्थापित किया जा सका। ये परिकल्पाएँ सीधे-सीधे घटित बातों पर आधारित नहीं होतीं। पर गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त जैसी चीजों ने तो असल में उस पुरानी मान्यता की जगह ले ली, जिसके अनुसार ईश्वर सभी चीजों को वापस अपने पास ऊपर बुला लेता है। आज यह सिद्धान्त हो या ईथर वाला सिद्धान्त हो, भले ही इनको नकार दिया गया हो, पर जिन अनुभवों से ये बने थे वे आज भी वैसे ही दिखते हैं, गिरने पर वस्तु पृथ्वी की तरफ ही आती है या शून्य से होकर विद्युत चुम्बकीय तरंगें वैसे ही पार करती हैं। अब हमें इन तथ्यों के पीछे के कारणों को बताने के लिए नये सिद्धान्त बताये गये हैं। चिकित्सा विज्ञान में भी हमारी बीमारियों को बताने के लिए वैकल्पिक सिद्धान्त आ गये हैं। लेकिन इन सिद्धान्तों को भी अब कोई अन्तिम नहीं मानता। ज्यों ही इन सिद्धान्तों से व्याख्यायित न हो सकने वाला कोई तथ्य सामने आएगा, ये बदल जाएँगे।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बारे में तथ्य बताते हैं कि किसी भी अन्य विश्व दृष्टि की तरह ये भी आन्तरिक हैं और निश्चित रूप से इनमें प्रकृति को एक खास तरह से जाँचने का प्रयास भी होता है। और यह उम्मीद करनी चाहिए कि जब हम प्रकृति के कामकाज की और ज्यादा गहराई से जाँच करेंगे, तो हमें विज्ञान के अभी दिखने वाले महत्त्व में ज्यादा दरारें दिखाई देंगी। कारण बहुत साफ है। हम अपनी मानवीय समझ के स्तर में एक किस्म की स्थिरता और दिशा बनाये रखते हैं यह चीज हमारे जन्मने और रहने वाली दुनिया तथा हमारे बीच के सम्बन्धों वाले पैमाने में अन्तर्निहित है। इसी तरह हम जीवित रहते हैं। अगर हम इससे बहुत अलग हैरत वाली चीज देखते हैं तो हम अलग रूपकों की तलाश करते हैं और अपनी समझ के स्तर और दिशा में बदलाव के लिए अनेक मॉडल गढ़ते हैं जो अब आमतौर पर गणितीय ही होते हैं। गणित में अनेक तार्किक संरचनाएँ बनाना और फिर भौतिक आधार पर उनकी परीक्षा कर लेने की सहूलियत होती है। पिछली तीन शताब्दियों से हम निरन्तर अपनी अवधारणाओं को व्यापक करते जा रहे हैं, कुछ तो दूरबीन और एक्स-रे जैसे उपकरणों की मदद से और साथ ही अणु जैसी चीजों के रहस्य को जानकर भी। सो, ऐसे में अगर हमारी सामान्य मानवीय समझ इतनी विस्तृत अवधारणाओं को न खपा सक रही हो तो इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है। फिर भी कोई मूर्त रूप और प्रकृति के एकता ढूँढ़ने की हमारी बुनियादी इच्छा हमें एक संरचना बनाने को मजबूर करती है, भले ही वह अब तक की हमारी सोच में चाहे जितनी अलग प्रकार की संरचना क्यों न हो। और यह उम्मीद करनी चाहिए कि नये अवलोकनों के साथ यह संरचना भी बदलती जाएगी। लेकिन यह मानना

न्यायोचित नहीं है कि यह वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि हमारे नित्य के अनुभव से बनी विश्व-दृष्टि से अधिक विश्वसनीय है।

दरअसल, वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि को बेहतर मानने के पीछे तकनीक का चमत्कार है। चमत्कार मनुष्य की सामान्य कमजोरी है। पैगम्बरों को भी अपने लोगों पर पकड़ बनाये रखने के लिए इसकी जरूरत पड़ी थी। यहाँ हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि चमत्कार निश्चित तौर पर विश्व के किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की पैदाइश नहीं बल्कि वस्तु के गुणों और व्यवहार के प्रति बढ़ते ज्ञान को एक शिल्पकृति में उपयोग करना भर है। प्राचीन प्रस्तर युग से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का तकनीक का इतिहास मानव की इसी प्रवणता का गवाह है। निश्चित रूप से पदार्थ का गुण पहचानकर ही आदि मानव ने फूलों की जगह पत्थर से अपने औजार बनाये होंगे। सत्रहवीं शताब्दी से इन खोजों ने एक नयी दिशा और रफ्तार पकड़ी, जो तब के इतिहास में नहीं दिखती। यह चीज मनुष्य के ज्ञान के विस्तार को नकारने के लिए नहीं कही जा रही है, बल्कि चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर मनुष्य के उस घमंड को खत्म करने के लिए कही जा रही है जो उसमें इस नए ज्ञान से आया है।

कुछेक उदाहरणों से बताया जा सकता है कि तकनीक का रिश्ता असल में वैज्ञानिक सिद्धान्तों की जगह वस्तुओं, घटनाओं और उनके अन्तर्सम्बन्धों के सावधानीपूर्ण अवलोकन पर अधिक निर्भर है। इस मामले में सबसे अच्छा उदाहरण न्यूटन के गति के नियम और पिछली शताब्दियों की तकनीकी क्रान्ति में उनका उपयोग है। आज न्यूटन के सिद्धान्त की जगह सापेक्षता के सिद्धान्त और क्वांटम सिद्धान्त ले ली है। पर आज भी मशीनों के स्तर पर दुनिया की अधिकांश मशीनें न्यूटन के पुराने सिद्धान्तों के आधार पर ही चल रही हैं। इसका सीधा-सा कारण है कि मशीनें अभी भी उन्हीं अवलोकनों-अनुभवों पर आधारित हैं जिनके आधार पर न्यूटन का सिद्धान्त बना था और मशीनों के स्तर पर वे अवलोकन आज भी खरे उतरते हैं। नीतिकी के नये सिद्धान्त आज सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों में लागू हो रहे हैं जहाँ नये अवलोकनों से पुराने सिद्धान्त कटते हैं या जिनके आधार पर नये सिद्धान्त गढ़े गये हैं। पर इस दरम्यान विश्व के बारे में पुराना नजरिया जरूर बदल गया है। यह भी कहा जा सकता है कि न्यूटन के सिद्धान्त पर बनी मशीनों के बाद बनी विश्व-दृष्टि भी इनके प्रति प्रबल आकर्षण भाव पर ही आधारित थी।

बिजली के बारे में ही सन्तोषजनक ज्ञान या सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी के अन्त या कहें बीसवीं सदी के शुरू में बन पाये, पर फैराडे के नियम के आधार पर इलेक्ट्रोलिसिस शुरू हो गया था। 1830 में टेलिग्राफ आ गया था और 1880 में बिजली का बल्ब भी जल उठा था। ये आविष्कार एडिसन के थे जिसे भौतिकी के सिद्धान्तों में कोई खास रुचि नहीं थी। तकनीक के लिए प्राकृतिक घटनाओं का सूक्ष्म अवलोकन और नये दिखे गुणों का तकनीक के लिए उपयोग कर लेने की इच्छा ही असली चीज थी। कैथोड किरणों और एक्स-रे का आविष्कार भी किसी और प्रयोग के सिलसिले में अचानक ही हो गया था। इनकी व्याख्या करने वाले सिद्धान्त आविष्कारों के कई-कई वर्ष बाद आये।

पेनिसिलीन का आविष्कार दवा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी है। लेकिन यह भी संयोग से ही सामने आ गया जब कुछ खास किस्म के फंगस के सम्पर्क में आने पर कुछ बैक्टीरिया मरते देखे गये। इस खोज के पीछे कोई सिद्धान्त नहीं था और इस प्रभाव को बताने वाला आज तक कोई सिद्धान्त नहीं आया है।

भोजन पकाना शायद मनुष्य का सबसे बड़ा आविष्कार है जिसमें सीधे न पचने वाले अनाजों, मूलों और कन्दों से उनका पौष्टिक अंश पाना सम्भव हो सका। पर यह काम भी किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त से नहीं मनुष्य द्वारा हर चीज पर बारीकी से गौर करने और फिर अपने निष्कर्षों को प्रयोग में लाने के गुण के चलते ही हुआ। अब जाकर रसायन विज्ञान यह बताने में सक्षम हुआ कि भोजन पकाने से उसमें क्या रासायनिक बदलाव होते हैं जिसके चलते वह सुपाच्य हो जाता है।

मनुष्य के मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह दुनिया को टुकड़े-टुकड़े में बाँटकर नहीं देख सकता। वह हर टुकड़े को अपनी समग्र दृष्टि के अन्दर ही समेटकर देखता है। उसे वह दिक्-काल की अपनी अवधारणा और कार्य-कारण सम्बन्ध के तहत रखकर देखता है। हालाँकि दिक्-काल की अवधारणा तथा कार्य-कारण सिद्धान्त हर संस्कृति में काफी अलग-अलग हो सकते हैं।

हाँ, आधुनिक तकनीक जिस तेज गति से इन अवलोकनों को दोहराने, परीक्षण करने और औद्योगिक उपयोग में लाती है, वह इसकी नयी विशेषता है।

अगर हम यह मानें कि तकनीक सिर्फ ठोस अवलोकनों पर ही आधारित है और इसका वैज्ञानिक सिद्धान्तों या उनसे जुड़ी विश्व-दृष्टि से कोई लेना-देना नहीं है तब हमें अठारहवीं सदी के बाद हुई तकनीकी क्रान्ति को समझने के लिए नयी व्याख्या ढूँढ़नी पड़ेगी। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है, यह कहावत एकदम सही है और यह इस मामले में हमें दिशानिर्देश

Scanned with CamScanner

दे सकती है। इसी के अनुरूप हमें उस काल की संस्कृति को भी देखना होगा जिसने हमें मिली तकनीक की जरूरत पैदा की।

जरूरतें दो तरह की होती हैं। जीवन के लिए आवश्यक जरूरतों में सुरक्षा, खाना, घर, कपड़ा, चिकित्सा वगैरह शामिल हैं। विलासिता की जरूरतें दूसरी श्रेणी में आती हैं जिनमें साज-शृंगार, शान की चीजें, दिखाने की चीजें शामिल हैं। तकनीक दोनों श्रेणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम है। भिन्न-भिन्न तरह के मानव समाजों पर एक सरसरी नजर डालने और यह महसूस करने पर कि लोग एक-से-एक मुश्किल स्थितियों में जीते-बढ़ते हैं, यह साफ हो जाता है कि भाषा जैसी तकनीक उन सामाजिक समूहों भर की जरूरत के लिए पर्याप्त और उतने तक ही सीमित होती है। अधिकांश जीवित बचे समाजों ने अपने माहौल के अनुरूप ही भोजन, पोशाक, मकान, हथियार और उपकरण विकसित कर लिये हैं।

यह बात भी गौर करने की है कि अधिकांश समाजों ने भोजन के स्थानीय स्रोत तो ढूँढ़े ही हैं, जड़ी-बूटियाँ, नशीले पदार्थ और पेय भी ढूँढ़े हैं। जिन पेयों को आज सबसे आधुनिक माने जाने वाले समाजों में सबसे ज्यादा शान की निशानी माना जाता है। वे सभी पिछड़े और आदिम माने जाने वाले समाजों द्वारा ढूँढ़े-विकसित किये गये हैं। आधुनिक विश्व को चाय, कॉफी, कोकोआ, तम्बाकू, अफ़ीम जैसी सारी चीजें गैर-यूरोपीय परम्परागत समाजों से ही मिली हैं। इसी प्रकार पश्चिमी जगत में उपयोग की जाने वाली अनेक दवाएँ अनेक प्राचीन समाजों द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली जड़ी-बूटियों से विकसित की गयी हैं। इन सबसे इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि लोगों में हर घटना और चीज पर बारीकी से गौर करने और अपने निष्कर्षों का उपयोग करने की क्षमता होती है।

मशीनों को बनाने में प्रयुक्त हुए अनेक आविष्कारों का श्रेय वैज्ञानिकों को नहीं कारीगरों को जाता है। आर्कमिडीज के पहले ही यूनानी लोगों को पनचक्की, स्क्रू प्रेस और गियर की जानकारी थी। मध्ययुगीन यूरोप में भी हवा और पानी की ऊर्जा का उपयोग होता था। ये सब कारीगरों की खोज थे। पर जहाँ यूरोप में, वाष्प इंजन या ऊष्मा इंजन के पूर्व मध्य युग में भी, हम लोगों को प्राकृतिक ऊर्जा का उपयोग उद्योग के लिए करने में दिलचस्पी लेते देखते हैं, वहीं ऐसी संस्कृतियाँ भी रही हैं, जिन्होंने अपने ऐसे ज्ञान का, जो औद्योगिक उपयोग के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था, इस दिशा में उपयोग ही नहीं किया। जैसे 62 ईस्वी में एलेक्जेंड्रिया के हीरो ने 'एओलिपाइल' नामक खिलौना इंजन बनाया था। इसकी एक धुरी पर दोनों तरफ नोजल से निकलने वाला वाष्प इसके पहिये को नचाता था। इस आविष्कार का औद्योगिक उपयोग करने की बात किसी को भी नहीं सूझी। इसी प्रकार यूरोप से हजारों साल पहले चीनी लोगों को चुम्बक दिक्सूचक का पता था। पर जहाजरानी में प्रयोग करने की जगह इस उपकरण का उपयोग भविष्य कथन या शकुन विचार में ही होता रहा। चीनी लोगों को बारूद के बारे में भी सदियों पहले से जानकारी थी पर वे इसका सैनिक उपयोग नहीं करते थे। यूनानी दार्शनिक थियोफ्रेटस ने चौथी सदी ईसा पूर्व में ही विद्युत की बात की है। पहली सदी में दोमनों को भी इसकी जानकारी थी। लेकिन यही चीजें गैल्विनो से शुरू होकर वोल्टास और फैराडे तक के माध्यम से उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक ऊर्जा के एक जबरदस्त स्रोत के रूप में सामने आयी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि (1) तकनीकों का विकास आमतौर पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनिवार्य आधार पर ही नहीं हुआ है, और (2) प्राचीन काल के अनेक महत्त्वपूर्ण आविष्कार औद्योगिक उपयोग में आये बिना खेल या चमत्कार की चीज भर बने रहे। अठारहवीं शताब्दी के आस-पास ही यूरोप में तकनीकी क्रान्ति हुई जिसने हर छोटी-बड़ी वैज्ञानिक जानकारी का उपयोग ही नहीं किया बल्कि वैज्ञानिक अनुसन्धान को बढ़ावा दिया, जिससे तकनीक में उत्तरोत्तर सुधार और विकास के लिए नयी सूचनाएँ मिलती गयीं।

हमने ऊपर कहा है कि तकनीक लोगों की आवश्यकताओं से ही उपजती है और स्थानीय स्थितियों और उपलब्ध साधनों के अनुरूप ही होती है। बाहर के लोगों के सम्पर्क से चीजों के आदान-प्रदान से स्थानीय स्तर पर अनुपलब्ध और अब तक प्रयोग न की जाती चीजों का उपयोग भी शुरू हो जाता है। दरअसल, अधिकांश समाजों में ऐसी नयी चीजों को लेकर शुरू में एक बहिष्कार का भाव भी रहता था। पर लोगों की जरूरतों का अपना महत्त्व है और संसाधनों की स्थिति के अनुरूप ही इनमें कुछ-कुछ बदलाव होता रहता था। इस प्रकार उपलब्धता और जरूरतों में एक सन्तुलन रहा करता था। लेकिन सोलहवीं सदी के यूरोप में प्रोटेस्टेंट मत और एक खास किस्म के विशिष्टतावाद के साथ ही मानवीय जरूरतें एक नया आयाम लेती दिखती हैं जिसमें कभी न मिटने वाली एक भूख शामिल थी। व्यावसायिक सफलता को ईश्वर के आशीर्वाद के साथ जोड़ा जाने लगा। इसके बाद असीमित औद्योगिक उत्पादन करना यूरोपीय देशों का सबसे प्रभावी विचार या कहें जुनून बन गया। समुद्र मार्ग से दुनिया-भर में व्यापार करने का रास्ता खुल जाने से इन नयी फैक्टरियों का माल हर जगह पहुँचने लगा। चूँकि व्यावसायिक सफलता को अधिक मुनाफे-अधिक धन से ही मापा जा सकता है इसलिए अधिक-से-अधिक उत्पादन का

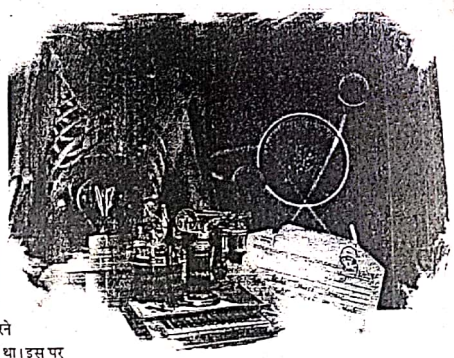

अर्थ मनुष्य की जरूरतों को पूरा करना है, यह बुनियादी उद्देश्य अब उद्योग और व्यवसाय जगत के अधिक-से-अधिक कारोबार और अधिक-से-अधिक मुनाफे के दर्शन से एकदम ढँक गया। इसी मनोवैज्ञानिक माहौल के चलते हर नये आविष्कार को औद्योगिक काम में लाया गया और विज्ञान को भी यहीं से दिशा-निर्देश मिलना शुरू हुआ।

यूरोप में सदियों से औद्योगिक उत्पादन में वायु और जल ऊर्जा का प्रयोग होता था, लेकिन पवन चक्की को घुमाने वाली हवा की गति का कोई भरोसा नहीं था। नदियों और प्रवाहों के पानी की गति तो भरोसा करने योग्य थी पर इनका उपयोग करने के लिए उद्योग का नदियों के किनारे बसना जरूरी था। इस पर भी पूरा काम नहीं चलता था। नदियाँ कभी सूख या जम भी सकती थीं। नये और फल-फूल रहे व्यापार की जरूरतों के लिए ऊर्जा के भरोसेमन्द स्रोत की जरूरत थी। इसी बुनियादी चीज के चलते कोयला और वाष्प इंजनों में इतनी दिलचस्पी जगी। पूरी सत्रहवीं सदी में वाष्प से काम लेने वाले प्रयोग होते रहे। सबसे पहले 1701 में न्यूकोमैन ने खदानों से पानी खींचने वाला एक वाष्प इंजन बनाया। फिर एक पर एक इंजन विकसित होते रहे, फिर जाकर जेम्स वॉट ने ऐसा कुशल वाष्प इंजन बनाया जिसने रेलगाड़ी खींचने से लेकर जहाज चलाने तक का काम किया। पर इसमें भी होने वाली ऊष्मा की हानि ने व्यवसायी वर्ग को बेचैन रखा जिससे बाद में अन्तर्दहन इंजन बने और फिर पेट्रोलियम की विश्वव्यापी खोज शुरू हुई।

जेम्स वॉट ने ही इंजन की ताकत को अश्वशक्ति में मापने की अवधारणा विकसित की और यह इस बात का संकेत था कि ऊर्जा का परम्परागत स्रोत—अश्व—अब पीछे छोड़ा जाने लगा है। शुरू में खेती वगैरह के काम में घोड़े की जगह मशीनों का उपयोग आर्थिक रूप से लाभप्रद नहीं था। पर खदानों, बड़े कारखानों, जहाजों के लिए घोड़े या आदमी की ताकत कम पड़ने लगी। इसी आवश्यकता ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया।

लेकिन औद्योगिक क्रान्ति ने आविष्कारों को भी एक नये उद्योग में बदल दिया। औद्योगिक प्रयोगशाला खोलने की शुरुआत करने वालों में एडिसन भी एक थे। ऐसे प्रतिभावान लोग सामने आ गये थे जो पूरा समय नयी तकनीक, नये उत्पादों की खोज में लगा सकते थे और इनकी बिक्री से खुद अमीर हो सकते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के पहले चरण में उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं पर जोर दिया गया जो आवश्यक जरूरतों वाली श्रेणी में आती थीं। नयी जरूरतों के अनुरूप ही दूसरी औद्योगिक क्रान्ति हुई। उसी अनुसार उत्पादन हुआ, व्यवसायीकरण हुआ। वैज्ञानिक अनुसन्धान उद्योगों का अनिवार्य अंग बना और आज दुनिया में हजारों ऐसे अनुसन्धान संस्थान चल रहे थे जो दुनिया के बारे में हमारी समझ बढ़ाने का काम नहीं, औद्योगिक उत्पादन में बढ़ावा देने और आम आदमी को गैर-जरूरी चीजें भी खरीदने को मजबूर करने के तरीके और सूचनाएँ जुटाने में लगे हैं।

पर इस औद्योगिक क्रान्ति का कुल नतीजा यह निकल रहा है कि कुछ लोगों की जेबें भरती जा रही हैं और गरीबी का रेगिस्तान बढ़ता जा रहा है। विश्व का पारिस्थिति के सन्तुलन बिगड़ रहा है। अधिकांश सोचने-समझने वाले लोग, जिनमें खुद वैज्ञानिक भी हैं—अब मानने लगे हैं कि विकास की मौजूदा दिशा और गति हमें एक पारिस्थितिक महानाश की तरफ ले जा रही है। इस विकास का एक और पहलू यह है कि अधिक-से-अधिक लोग शुद्ध हवा, पानी वाले माहौल को छोड़कर शहरों की तरफ भाग रहे हैं जहाँ खुली हवा और साँस लेने की जगह नहीं है और जहाँ का जीवन या तो एकदम कृत्रिम है या फिर मनुष्य के सामान्य ढंग से न रह पाने लायक। यह पूरा ढाँचा इतना बड़ा और दिमाग में न समा सकने वाला है कि छटपटाहट के बावजूद आदमी खुद को असहाय पाता है और फिर हिंसक तथा आक्रामक बनता है।

इस समस्या पर विस्तार से बात करना यहाँ सम्भव नहीं है, पर तकनीक के दो नजरियों में तुलना करना जरूरी है। एक परम्परागत है और दूसरा आधुनिक। परम्परागत तकनीकें अपने-आप में परिपूर्ण और पारिस्थितिकी से मेल खाने वाली थीं। इसी नजरिये के साथ मनुष्य 30 लाख वर्ष से, जब से वह वनमानुष से अलग हुआ, इस पृथ्वी पर रहा है। मनुष्य के अपने मौजूदा

Scanned with CamScanner

...से की 50 हजार वर्ष और शहरी जीवन शुरू हुए भी छह हजार वर्ष हो गये हैं। इन सब में परम्परागत नजरिया ही रहा। पर आधुनिक औद्योगीकरण की दो शताब्दी ने ही परमाणु युद्ध या पारिस्थितिक महाविनाश से मनुष्य के अस्तित्व पर ही सवालिया निशान लगा दिये हैं। मौजूदा औद्योगिक संस्कृति के बारे में इससे ज्यादा निर्णायक बात और क्या होगी।

सच्चाई यही है कि आधुनिक पश्चिमी तकनीक शुरू से ही विनाशवादी, मानवीय मूल्यों को नष्ट करके व्यावसायिक सफलता को ऊपर करने वाली रही है। यूरोप में पन्द्रहवीं सदी में जो व्यापार विकसित हुआ, उसमें प्रतिद्वन्द्वी को खत्म करने या गुलाम बनाने की प्रवृत्ति रही थी. समुद्री दस्यु ड्रेक को इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ द्वारा पुरस्कृत करना इस नये युग की शुरूआत का प्रतीक है। अगर हम उपनिवेशों या यूरोप में ही अठारहवीं सदी में हुई लड़ाइयों पर गौर करें तो हम बड़ी आसानी से उनके पीछे व्यावसायिक स्वार्थों को देख सकते हैं। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और अमीर देश जिस तरह से हथियारों और छोटे-कमजोर देशों की राजनीति में दखल देते हैं, उसमें भी यही गठजोड़ काम कर रहा है।

औद्योगिक क्रान्ति के दौरान तकनीक का विकास न तो उतना स्वतःस्फूर्त ढंग से हुआ न तेजी से, जैसा कि आमतौर पर मान लिया जाता है। औद्योगिक क्रान्ति की अगुवाई करने वाला कपड़ा उद्योग ही इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इस उद्योग में बढ़ती मांग के चलते अधिक उत्पादक विधियों की खोज की जरूरत पड़ी और एक क्षेत्र में हुई नयी खोज ने दूसरे में भी बदलाव के लिए दबाव डाला। पहले वहाँ 'पुटिंग आउट सिस्टम' चलता था जिसमें व्यवसायी पूँजीपति अपने फार्म के मजदूरों को कच्चे माल दे देता था जिससे उसके घर की औरतें-बच्चे कपड़ा तैयार करते थे। इनको कीमत प्रति कपड़ा दी जाती थी। सो कताई-बुनाई का काम घरों में ही होता था। फिर 1733 में फ्लाइंग शटल आया जिससे बुनाई तेज हो गयी। पर अब सूत कम पड़ने लगा। 1764-69 में हारग्रीव्स स्पिनिंग जेनी बनी। 1769 में आर्कराइट ने अधिक ऐंठनेवाले सूत के लिए वाटर फ्रेम विकसित किया। फिर कपास की सफाई पिछड़ने लगी। 1793 में कॉटन जिन बना जो बीज निकाल देता था। फिर अठारहवीं सदी के अन्त में जगह-जगह बिखरा काम सिमटाकर एक-एक कारखाने में लाया जाने लगा। तब तक पानी से चलने वाली मशीनें भी आ गयी थीं। अब मजदूरों को मशीनों के अनुरूप ढलना था। उन्हें बहुत छोटे-छोटे कामों तक ही सीमित और उसका विशेषज्ञ बनना पड़ा। वाष्प इंजन वाली मशीनें आयीं पर उत्पादन तकनीक नहीं बदली।

नयी औद्योगिक तकनीक से होने वाला उत्पादन बेहतर होता है और इससे उत्पादकों का जीवन-सुधार होता है, यह मान्यता एकदम गलत है। औद्योगिक क्रान्ति के शुरुआती दौर में मशीनों का माल एकदम खराब होता था और मजदूरों की स्थिति बदतर ही होती गयी थी। उनकी बदहाली के विवरण इतिहास में भरे पड़े हैं।

1811 में लुडवादी दंगे के रूप में उनकी नाराजगी भड़की तो निशाना मशीनें ही बनीं। यह आग पार्कशायर, लंकाशायर, डर्बीशायर, लिसेस्टरशायर तक फैली। दंगाइयों को आम लोगों का समर्थन भी हासिल था। पर आन्दोलन को बड़ी बेरहमी से कुचला गया। इसके नेता समेत अनेक मजदूरों को फाँसी दी गयी। 1816 में फिर से दंगों की शुरुआत हुई थी, पर इस बार इन्हें ज्यादा सख्ती से कुचल दिया गया। बाद में उपनिवेशों की लूट और वहाँ के बाजार ने इंग्लैंड के मजदूरों की स्थिति में भी कुछ सुधार किया और कारखाना व्यवस्था के खिलाफ नाराजगी थमी।

लादा गया कार्य अनुशासन, अपने काम से परायापन, भेदभावपूर्ण वर्गीकरण इस आधुनिक उत्पादन प्रणाली में अन्तर्निहित है और यही चीजें आधुनिक सभ्यता में भी झलकती हैं जिसमें मनुष्य के खिलाफ तो मनुष्य खड़ा ही है, वह प्रकृति के खिलाफ भी खड़ा हुआ है।

नयी औद्योगिक तकनीक का एक पहलू यह भी है कि इसने कुछ पुरानी और अच्छी तकनीकों को, कच्चे माल को, उत्पादों को उनके गुण के आधार पर नहीं सिर्फ व्यावसायिक दृष्टि से ज्यादा लाभप्रद न रहने के आधार पर रद्दी की टोकरी में डाल दिया है। यह नयी उत्पादन पद्धति सामाजिक या पारिस्थितिक हिसाब से उपयुक्त न भी हो तब भी यदि उत्पादक को ज्यादा मुनाफा दे और बाजार की प्रतिद्वन्द्विता में आगे रखे तो यह इसे ही अपनाता है। पवन चक्कियों और पनचिरनी का उदाहरण बहुत ही उपयुक्त है जो बारहवीं से उन्नीसवीं सदी तक यूरोप में रही हैं। पवनचक्कियाँ तो प्रथम विश्व युद्ध तक थीं। लेकिन अन्तर्दहन इंजनों, जिनमें पेट्रोलियम जलता है, का बिजली ने अन्त कर दिया। कोयले की सप्लाई अच्छी थी और वाष्प इंजन ज्यादा तेज काम करते थे, सो बदलावों से चाहे जितने पूँजीपतियों की जेबें भरी होंगी असल नुकसान मानवता का हुआ है। एक तो कोयला और पेट्रोलियम दोबारा उपयोग न आने वाले ईंधन हैं तथा इनसे भारी प्रदूषण फैला है। सो पूँजीपति को जिस चीज से तात्कालिक लाभ हुआ उसके लिए पूरे मानव समुदाय को भारी कीमत चुकानी पड़ी है। यह बदलाव न हुआ होता तो अब तक वायु और पानी से ऊर्जा लेने वाली तकनीकों में भी भारी सुधार हो गया होता। ये स्रोत कभी खत्म होने वाले नहीं हैं और

इनसे प्रदूषण भी नहीं होता और सबसे बड़ी बात, हमारे सामने आज जैसा ऊर्जा का संकट नहीं होता।

मौजूदा तकनीक के कई शिकार अपने यहाँ भी मिल जाएँगे। जैसे कृत्रिम धागों ने कपास और पटसन के धागों का काम चौखट कर दिया है। जहाँ तक पटसन और कपास के कपड़ों की बात है उनकी उपयोगिता खत्म नहीं हुई है। लेकिन कृत्रिम धागा पेट्रोलियम पदार्थों का एक उप-उत्पाद है और पेट्रोरसायन उद्योगों को लाभ देने के लिए इनको ग्राहकों पर लादा जा रहा है। चमक कायम रहने या नमी से खराब न होने जैसे कुछ गुण उनमें हैं। पर सर्दी-गर्मी से बचाने का गुण हो या आराम का मामला, उनसे कहीं आगे होने के बावजूद बाजार में सूती कपड़े दरकिनार होते जा रहे हैं और सिन्थेटिक कपड़े भरते जा रहे हैं। इसी प्रकार पटसन की बोरियों की जगह प्लास्टिक की बोरियों ने ले ली है। जिस तरह से कृत्रिम रंगों ने नील की खेती को चौपट कर दिया उसी तरह सिन्थेटिक कपड़े भी मौजूदा प्रवृत्ति के जारी रहने पर सूती कपड़ों को निगल जाएँगे। इस उद्योग में कच्चा माल सप्लाई करने वाली विदेशी कम्पनियाँ ही मुख्य रूप से फायदे में रहेंगी जबकि करोड़ों किसान और लाखों कपड़ा और पटसन की मिलों के मजदूर अपनी रोजी-रोटी से हाथ धो बैठेंगे। पर सबसे बड़ी बात यह है कि यह सिन्थेटिक कपड़े का दौर भी स्थायी नहीं होने जा रहा है। पेट्रोल के कुओं के सूखते ही, जो अगली सदी के मध्य तक होने लगेगा, ये धागे ज्यादा महँगे और कम हो जाएँगे। तब तक जूट-कपास की खेती और बुनाई खत्म हो चुकी होगी और फिर कपड़े के मामले में क्या परिदृश्य उपस्थित होगा इसकी अभी से कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सीधे प्रयोगशालाओं में निकली 'वैज्ञानिक' दृष्टि का एकदम व्यावसायिक हो चुकी दुनिया में बहुत खतरनाक उपयोग भी हो सकता है। प्रयोगशाला में तो 'इनपुट-आउटपुट' के आधार पर सारा कुछ चलता है। यह नजरिया आधुनिक समाज के व्यावसायिक नियमों को मजबूत कर सकता है, जो खुद ऐसे ही फार्मूले से सोचता है और मानवीय जीवन के अन्य मूल्यों को दरकिनार करता जा रहा है।

उपर्युक्त बातें तकनीक के बारे में मौजूदा नजरिया को बदलने के लिए ही की गयी हैं। सबसे पहले तो हमें यह घमंड छोड़ना होगा कि पुराना तकनीक पिछड़ी और अवैज्ञानिक है। यह ज्यादा सोच-समझ और लम्बे अनुभव के आधार पर पूरे परिवेश को देखते हुए बनी है और सदियों की परीक्षा में खरी उतरी है। आधुनिक तकनीक को विज्ञान से एक लाभ मिला है नियन्त्रित और प्रत्यक्ष अवलोकन से निकले परिणामों तक पहुँच का, खासकर प्रयोगशालाओं के अवलोकनों का, जिसने अवलोकन के क्षेत्र और गति में काफी विस्तार किया है। पर पुरानी तकनीकें अधिक लम्बे काल का अनुभव समेटे हैं और पूरी पारिस्थितिकी के मेल से विकसित हुई हैं। प्रयोगशाला के परीक्षणों में वह सामान्य स्थिति रह ही नहीं पाती जिसमें किसी चीज को काम करना है। इसके निष्कर्षों की लम्बे प्रयोग के बाद ही सामाजिक उपयोगिता साबित हो सकती है। इसमें दशकों का समय लग सकता है और तभी मौसम, मिट्टी, पानी, हवा, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों पर उनके असर को जाँचा जा सकता है। दुनिया में अनेक पारिस्थितिक आपदाएँ ऐसी ही प्रयोगशाला वाली तकनीक को सीधे प्रयोग में लाने से आयी हैं।

ऐसा एक दुःखद उदाहरण अफ्रीका के साहेल इलाके में दिखा था जो दक्षिणी सहारा से लगा है। यहाँ जबरन घुमन्तू कबीलों को बसाने का प्रयोग यह सोचकर किया गया कि इससे उनके जीवन में और इस इलाके में समृद्धि आएगी। पर परिणाम निकला कि पूरा इलाका सहारा रेगिस्तान की गोद में चला गया।

लोगों के जीवन में सुधार के लिए समझदारीपूर्ण योजना तभी बन सकती है जब (1) लोगों के अपने मूल्यों के प्रति आदर रखते हुए कोई भी परिवर्तन उन्हीं मूल्यों की धुरी पर किया जाए; (2) परम्परागत तकनीकों का इस लिहाज से समग्र अध्ययन किया जाए कि लोग जिस वातावरण में रहते हैं उसमें वैसी तकनीकों के तर्काधार को समझा जा सके; (3) ऐसी तकनीकी उद्भावनाओं को शुरू किया जाए जो दूसरी तकनीकों को आगे बढ़ाएँ, न कि उनका स्थान ले लें; (4) पूर्णतः नई तकनीकों को उन्हीं क्षेत्रों में शुरू किया जाए जहाँ पुरानी तकनीकी व्यवस्था नहीं पायी जाती और लोगों को मूलभूत जरूरतों से वंचित रहना पड़ता है और; (5) मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्यपूर्ण रिश्ते को नष्ट करने वाली सामाजिक प्रणालियों को खत्म किया जाना चाहिए। यह आम जानकारी की बात है कि असमानता में वृद्धि का नतीजा देखा-देखी उपभोग और विशाल काम निर्माणों में निकलता है जिसका पर्यावरण पर अवांछित दबाव पड़ता है, जैसे कि अन्धे होकर शिकार करना, महँगे फर और फर्नीचर बनाने के लिए वनों की अन्धाधुन्ध कटाई तथा सोने और महँगे पत्थरों के लिए अन्धाधुन्ध खुदाई करना। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि असमानताओं द्वारा पोषित और आधुनिक तकनीकों द्वारा गुणित मनुष्य की उपभोग की भूख धरती के समस्त संसाधनों को खा जाने वाली है। इस सन्दर्भ में गांधी की यह हिदायत याद रखनी चाहिए कि 'धरती के पास सभी की जरूरतों के लिए पर्याप्त सामग्री है लेकिन एक के लालच के लिए नहीं।'

सम्पर्क—गाँव + पो. - मनिका, मुजफ्फरपुर, बिहार

Reference:-Sacchida Nand Sinha, "Antim Jan" Feb. 2015

Scanned with CamScanner